जनतंत्र के (खल) नायकों को बेपर्द करती किताब

विनीत कुमार

आर.टी.आई. से पत्रकारिता : ख़बर पड़ताल असर
श्यामलाल यादव
पृष्ठ : 257.
मूल्य : ₹396.
सेज पब्लिकेशंस प्रा.लि., नई दिल्ली.

आर.टी.आई. से पत्रकारिता : ख़बर, पड़ताल, असर श्यामलाल यादव की मूलतः अंग्रेज़ी में लिखी किताब *जर्नलिज़म थ्रू आरटीआई : इंफ़ॉर्मेशन, इंवेस्टिगेशन, इंपैक्ट* का हिंदी तर्जुमा है। वैसे तो किताब के शीर्षक से ही स्पष्ट है कि लेखक ने इसमें सूचना के अधिकार का उपयोग ख़बर जुटाने से लेकर खोजी पत्रकारिता को विस्तार देने में किस रूप में किया है और उनका किन रूपों में असर हुआ है, इन सबकी चर्चा शामिल होगी। किंतु, किताब के पन्ने-दर-पन्ने गुजरते हुए यह समझने में मुश्किल नहीं होती कि दरअसल यह किताब फ़ेक न्यूज़ और पोस्ट ट्रूथ (सत्योत्तर) के दौर में जिसमें दुर्भाग्य से ख़ुद मीडिया भी शामिल है, और समय-समय पर इस पर भी लोकतंत्र की जड़ों को कमज़ोर करने के आरोप लगते आए हैं, लोकतांत्रिक ढाँचे के चरमराते जाने, प्रशासनिक व्यवस्था के ध्वस्त होने और उसके भीतर की बजबजाती सड़ांध को पूरे साहस के साथ सार्वजनिक करने की पत्रकारीय कार्रवाई है। किताब का सबसे मज़बूत पक्ष है कि लेखक

इस दृष्टि से यह किताब पत्रकारिता के उन सभी छात्रों और अध्येताओं के लिए ज़रूरी किताब है जो मीडिया मिशन या प्रोफ़ेशन के सवाल में उलझकर दोनों को एक-दूसरे से अलग बात मान लेते हैं।

ने शुरू से लेकर आख़िर तक कहीं भी कारोबारी/ कॉरपोरेट मीडिया की तरह भाषाई वितंडा जो कि अब पैटर्न हो चला है, खड़ा किए बिना बड़ी ही सादगी के साथ एक के बाद एक तथ्यों को सामने रखकर अपनी बात रखने की कोशिश की है। श्यामलाल यादव ने जिन ज़रूरी मुद्दों को आर.टी.आई के ज़रिए सार्वजनिक करने का काम किया है, उनसे इस बात की भरपूर संभावना बनती है कि वो अपने इस काम और ख़ुद को भी नायक के तौर पर पेश करें और जिससे लगे कि उन्होंने पत्रकारिता के नाम पर कोई असाधारण काम किया है। यह काम इतना असाधारण और श्रमसाध्य है कि जिसे कर पाना किसी और के बूते की बात नहीं। लेकिन श्यामलाल यादव की प्रस्तुति का सहज, साधारण किंतु पत्रकारिता का पारंपरिक अंदाज़ चौबीस घंटे के ख़बरिया चैनलों और अख़बार के रंगीन होते पन्ने के बीच से गुज़रनेवाले पाठकों के भीतर यह यक़ीन पैदा करने में कामयाब हो पाता है कि कथन की सहजता और तथ्यों की प्रामाणिकता के साथ यदि कोई पत्रकार-लेखक अपनी बात रखता है, उसके बाद न तो बनावटी भाषा, न ही प्रभाव पैदा करने के नाम पर अतिरिक्त शोर और न ही बार-बार किसी तरह के दावे की ज़रूरत पड़ती है। यही कारण है कि एक समाचार चैनल में जहाँ दिनभर में न जाने कितनी बार 'एक्सक्लूसिव' और 'ख़बर का असर' जैसे लेबल का इस्तेमाल किया जाता है, श्यामलाल यादव ने आरटीआई के ज़रिए जिन ख़बरों और तथ्यों को दुनिया के सामने पेश किया, वो सबके सब एक्सक्लूसिव हैं किंतु किताब में कहीं भी इस शब्द का प्रयोग नहीं है। कहीं इस बात की ठसक नहीं है कि उनके कारण सरकारी तंत्र और प्रशासन के भीतर की सड़ांध सार्वजनिक हो पाई जो कि देश में सैकड़ों समाचार चैनल और उनसे कई गुना ज़्यादा पत्र-पत्रिकाएँ प्रसारित-प्रकाशित होते रहने के बावजूद नदारद रहे। इस दृष्टि से यह किताब पत्रकारिता के उन सभी छात्रों और अध्येताओं के लिए ज़रूरी किताब है जो मीडिया मिशन या प्रोफ़ेशन के सवाल में उलझकर दोनों को एक-दूसरे से अलग बात मान लेते हैं। श्यामलाल यादव एक के बाद एक स्टोरी के माध्यम से यह स्पष्ट करते चलते हैं कि पेशेवर पत्रकारिता किसी मिशन से रत्तीभर भी कम नहीं है और जो भी इसमें पेशेवर तरीक़े से सक्रिय हैं, उसके आगे यह सवाल कभी भी दुविधा पैदा नहीं करता।

तक़रीबन ढाई सौ पन्ने की यह किताब पाठकों से पर्याप्त धैर्य की माँग करती है लेकिन बातचीत इतने दिलचस्प ढंग से शुरू होती है कि बतौर पाठक हम उस पूरी प्रक्रिया और संदर्भों को बहुत ही बारीकी से समझ पाते हैं कि कैसे मीडिया का एक सामान्य छात्र आगे चलकर एक

ऐसा पत्रकार बन पाता है जिसकी रिपोर्ट प्रकाशित होने के कुछ ही घंटे बाद प्रशासनिक स्तर पर कार्रवाई शुरू हो जाती है, जिसके काम में इतना धैर्य और समझदारी है कि सरकारी मशीनरी यह जानते हुए कि ख़बर के सार्वजनिक होते ही उनकी ही फ़ज़ीहत होगी, इस बात पर सहयोग करती है कि बतौर पत्रकार यह व्यक्ति जो कुछ भी कर रहा है, यह महज़ इसका पेशा भर नहीं है, बल्कि इससे संविधान द्वारा जो एक लोकतांत्रिक व्यवस्था बहाल की गई है, वह सुरक्षित रह सकेगी। किताब से गुज़रते हुए हमें श्यामलाल यादव के न केवल एक मेहनतकश पत्रकार — उनके संपादक अरुण पुरी (प्रधान संपादक, *इंडिया टुडे*) ने 'इंडिफ़ैटिगेबल' (यानि अथक) कहा था, होने का बोध होता है बल्कि एक ऐसे पत्रकार से भी परिचय हो पाता है जिसके भीतर 'पोस्टर ब्वॉय' बनने की बेचैनी के बजाय 'अनसंग हीरो' बनकर अपने मूल कर्म के प्रति सचेत बने रहना है। पत्रकारिता में दिलचस्पी रखने और इसमें अपना भविष्य देखनेवाले उस प्रत्येक व्यक्ति के लिए यह किताब प्रस्तावित करती है कि जिस व्यक्ति के भीतर धैर्य, अपमान और नज़रअंदाज़ किए जाने को पचा ले जाने की क्षमता, ज्ञानात्मक संवेदना और संवेदनात्मक ज्ञान के प्रति आस्था नहीं है, उसके लिए यह पेशा नहीं है। बावजूद इनके वह इसमें शामिल हो जाता है तो वह इसके साथ न्याय नहीं कर सकेगा।

इंडियन एक्सप्रेस के प्रधान संपादक राजकमल झा द्वारा लिखी गई किताब की भूमिका, लेखक का पुरोकथन और व्यक्त आभार में जिस अंदाज़ में उनके आरटीआई के ज़रिए पत्रकारिता करने की शुरुआत की बात की गई है, ये सब एक ही साथ पत्रकारिता, तथ्य जानने एवं आँकड़े जुटाने के लिए किए जाने वाले संघर्ष, समाज और लोकतांत्रिक व्यवस्था में इसकी ज़रूरत और आरटीआई को पत्रकारिता के लिए इस्तेमाल किए जाने के लिए श्यामलाल यादव की सक्रियता को बतौर प्रस्तावना के उद्घाटित करते हैं।

किताब की भूमिका में राजकमल झा अपने स्नातक के दिनों को याद करते हुए उन प्रसंगों की चर्चा करते हैं कि कैसे उन्होंने युनिवर्सिटी ऑफ़ सदर्न कैलिफ़ोर्निया, लॉस एंजेल्स में खोजी पत्रकारिता की, उनकी प्रोफ़ेसर ने मामूली गतिविधियों के माध्यम से पत्रकारिता में शिक्षित करने का काम किया और जिसका सार ये था कि :

> आँकड़े पर यकीन कर; रिकॉर्ड्स देखो। ये बहुत कुछ कहते हैं और शायद ही कभी झूठ बोलते हों। ये आपके सबसे भरोसेमंद स्रोत होते हैं। इन्हें खँगालने और इनकी पड़ताल करने की कला सीखो।

आगे वे जोड़ते हैं कि श्यामलाल यादव इस कला में तेज़ी से महारत हासिल कर रहे हैं।

पुरोकथन में श्यामलाल यादव आरटीआई के ज़रिए पत्रकारिता के लिए तथ्य जुटाने के प्रसंगों की विस्तार से चर्चा करते हुए बताते हैं कि कैसे 2007 से पहले वो इस संबंध में बहुत ज़्यादा नहीं जानते थे। कैसे *इंडिया टुडे* के तत्कालीन संपादक प्रभु चावला ने अपने सभी सहयोगी मीडियाकर्मियों को ई-मेल भेजकर कहा कि कम-से-कम तीन ऐसे स्टोरी आइडिया दें जिनकी आरटीआई के ज़रिए पड़ताल की जा सकती हो और फिर प्रबंध संपादक शंकर अय्यर ने उन्हें बुलाकर कहा, 'तुम्हें अब उन्हीं स्टोरीज़ पर ज़्यादा ध्यान केंद्रित करना है जिनकी आरटीआई के ज़रिए पड़ताल की जा सके'। किसी नए विषय एवं धीरे-धीरे उसमें दिलचस्पी पैदा करने की प्रक्रिया क्या होती है और किस तरह से मुश्किलों से जूझते हुए मक़ाम हासिल किया जा सकता है, इन सारी बातों को

गंभीरतापूर्वक समझने के लिए 'पुरोकथन' और 'आभार' किताब की ज़रूरी सामग्री है।

किताब में कुल 11 अध्याय हैं जिसमें कि नौ अध्याय में लेखक ने आरटीआई के ज़रिए की गई अपनी पत्रकारिता, ख़बर, पड़ताल और उसके असर की चर्चा की है। इन अध्यायों से गुज़रते हुए पाठक बेहतर ढंग से समझ सकेंगे कि विश्व के सबसे बड़े लोकतांत्रिक देश की सरकारी मशीनरी, उनकी सहयोगी शीर्षस्थ संस्थाएँ और उनसे जुड़े लोग किस हद तक भ्रष्टाचार में आकंठ डूबे हैं और उन मंत्रालयों में दस्ताज़ों के रख-रखाव की व्यवस्था कितनी लचर है जिन पर पूरे देश की सुरक्षा एवं संरक्षण की ज़िम्मेदारी है। दूसरी तरफ़ जिन योजनाओं को प्राकृतिक संसाधनों के बचाव एवं जनहित के नाम पर लागू किए जाते हैं, व्यावहारिक स्तर पर वे कैसे ठीक इससे उलट असर पैदा करती हैं, इन सबका विस्तृत ब्यौरा शामिल है। इस अर्थ में यह किताब आरटीआई के बहाने एक ही साथ कई ऐसे संदर्भों को शामिल करती है जिससे कि इसका पाठकीय दायरा विस्तृत होता चला जाता है। अंतिम अध्याय में आरटीआई का पत्रकार अपने काम के लिए किस तरह उपयोग कर सकते हैं और पत्रकारिता के माध्यम से बदलाव ला सकते हैं, इसकी चर्चा शामिल है। इधर, पहले अध्याय में आरटीआई क़ानून के ऐतिहासिक संदर्भ एवं अस्तित्व में आने में मीडिया की क्या भूमिका रही, इनकी चर्चा शामिल है। अंतिम अध्याय की रूप-रेखा ऐसी है कि इसकी सहायता से मीडिया छात्रों एवं पेशेवर पत्रकारों के बीच खोजी पत्रकारिता संबंधी कार्यशाला आयोजित की जा सकती है। इसी अध्याय में लेखक के अपने अनुभव भी शामिल हैं जिन्हें कि उन्होंने जगह-जगह सूक्ति कथन की शक्ल देने की कोशिश की है। मसलन — 'यह हो सकता है कि कुछ सूचना आयुक्त कुछ ख़ास लोगों को बचाना चाहते हों, लेकिन ज़्दाातर स्वयं को पारदर्शिता और खुलेपन का पक्षधर दिखाना चाहते हैं, भले ही उनका पूरा करियर सूचना छुपाने में बीता हो।'(पृ. 226) इसी तरह, याद रखें कि नहीं का अर्थ हमेशा इनकार नहीं होता... ये वो सूक्ति कथन है जिनमें लेखक के अनुभव तो शामिल हैं ही, साथ ही उन तमाम मीडियाकर्मियों के लिए टिप्स भी हैं जिन्हें शामिल करने से बेहतर परिणाम आने की संभावना बढ़ जाती है। (पृ. 224)

किताब का पहला अध्याय आरटीआई के आगमन, उसके ऐतिहासिक संदर्भ, दुनिया भर में इस संबंध में तय की गई रूप-रेखा, अध्ययन, व्यावहारिक प्रयोग और सामयिक स्थितियों के आकलन पर केंद्रित है। इसी अध्याय में लेखक ने भारत में आरटीआई के अस्तित्व में आने के पीछे मीडिया की भूमिका को रेखांकित करने की कोशिश की है। आरटीआई से जुड़ी तथ्यात्मक, वस्तुनिष्ठ एवं लोकतांत्रिक देशों में इसकी ज़रूरत जैसे संदर्भों को समझने के लिए इस अध्याय को पढ़ा जाना ज़रूरी है। लेखक ने विभिन्न देशों में आरटीआई के अस्तित्व में आने के संदर्भों को शामिल करते हुए एक-दूसरे से अलगाने और उसकी विशिष्टता को रेखांकित करने की कोशिश की है। इसी कड़ी में वो यह जोड़ते चलते हैं कि भारत जैसे देश में आरटीआई के अस्तित्व में आने के पीछे जनांदोलनों की विशिष्ट भूमिका रही है, जिसका नेतृत्व अरुणा रॉय ने किया। 1994 में उन्होंने राजस्थान के राजसमंद ज़िले से इसकी जो शुरुआत की, आगे चलकर वो धीरे-धीरे राष्ट्रीय स्तर पर जन-

आंदोलन का स्वरूप लेता चला गया। अब आरटीआई पर अरुणा रॉय की *दि आरटीआई स्टोरी : पॉवर टू दी पीपुल* शीर्षक से स्वतंत्र पुस्तक भी है और जो कि हिंदी में *आरटीआई कैसे आई !* शीर्षक से उपलब्ध है। इन जन-आंदोलनों से एक के बाद एक ऐसे तथ्य सामने आए जिसके अनुसार इस जनतांत्रिक व्यवस्था में निचले स्तर तक अराजकता और भ्रष्टाचार व्याप्त है। लिहाज़ा आरटीआई क़ानून बनाए जाने की सख़्त ज़रूरत है। इसके लिए चलाए जा रहे आंदोलनों के बीच प्रेस काउंसिल की एक रिपोर्ट कहती है :

> भारत भ्रष्टाचार, अनैतिक आचरणों और घोटालों में शब्दशः गले तक डूबा हुआ है और पिछले 50 वर्ष से यही सब चल रहा है।(पृ. 12)

लेखक ने एक के बाद एक उन संदर्भों को शामिल किया है जिनसे पाठक समझ सकें कि कैसे एक ओर आरटीआई को क़ानूनी रूप दिए जाने की जनाकांक्षा मज़बूत होती चली जाती है तो दूसरी तरफ़ तत्कालीन सरकार की ओर से इनमें अड़चनें डाली जाती हैं या फिर इसके प्रति उनका उदासीन रवैया खुलकर सामने आता है ? इस कड़ी में राजनीतिक दलों के नैतिक आचरण एवं यथास्थितिवाद बनाए रखने जैसे रवैये का भी आकलन किया जा सकता है। बहरहाल, 21 जून 2005 को भारतीय गज़ट में जब इसे क़ानून के तौर पर अधिसूचित किया गया, इस किताब में वो अंतर्दृष्टि निहित है जिसकी सहायता से पाठकों को यह समझने में सुविधा होगी कि उसके बाद, क़ानूनी रूप दिए जाने के बावजूद समानांतर रूप से कैसे इसके प्रावधानों में फेरबदल या फिर उन्हें नज़रअंदाज़ करके कमज़ोर किए जाने का काम शुरू होता चला गया जो कि अभी भी जारी है।

आरटीआई के भविष्य का आकलन करते हुए लेखक ने शंकर अय्यर की किताब *ऐक्सीडेंटल इंडिया : अ हिस्ट्री ऑफ़ नेशन्स पैसेज थ्रू क्राइसिस ऐंड चेंज* का उदाहरण शामिल किया है जिसके अनुसार :

> हालाँकि आरटीआई क़ानून के तहत होने वाले पर्दाफ़ाशों से सरकारें शर्मसार होती रही हैं जिसके कारण वे आरटीआई क़ानून की शक्ति कम करने की कोशिशें करती रहेंगी, इसमें कोई संदेह नहीं है कि इस क़ानून की शक्ति धीरे-धीरे कम करने के प्रयास होंगे, नौकरशाही की औपचारिक और तकनीकी शब्दावली में सूचना देने से इनकार किया जाएगा और इसमें विलंब किया जाएगा, छाँट-छाँट कर सूचना जारी करके घोटालों पर पर्दा डाला जाएगा। (पृ. 18)

शंकर अय्यर की किताब का उद्धरण शामिल करते हुए आरटीआई के भविष्य को लेकर जो आकलन लेखक ने इस पहले अध्याय में किया है, दरअसल उसके न केवल पर्याप्त संकेत वो बाक़ी के अपने नौ अध्यायों में देते चलते हैं बल्कि व्यावहारिक तौर पर इस क़ानून के साथ किस हद तक खिलवाड़ किया जा रहा है, उसके भी साक्ष्य पेश करते हैं। इन साक्ष्यों से गुज़रने के बाद पाठक जो कि कारोबारी मीडिया के तथ्य और तर्क आधारित पत्रकारिता के बजाय मत एकपक्षीय सामग्री का शिकार हो चले हैं, पहले तो अचंभित होंगे, उसके बाद उन्हें धक्का लगेगा और किताब के आख़िरी पन्ने तक आते-आते इस निष्कर्ष तक पहुँचेंगे कि चाहे जो भी संस्थान, सरकार और उनकी योजनाएँ हों, निजी स्वार्थ और हितों के आगे नागरिक सुविधा, विकास और उसकी स्वतंत्रता का सवाल न

केवल बहुत पीछे छोड़ दिया जाता है बल्कि उन्हें बुरी तरह कुचलने का भी काम किया जाता है। इस अर्थ में यह किताब बिना किसी घोषणा के लोकतांत्रिक व्यवस्था के सही ढंग से चलते रहने के लिए नागरिक समाज की सक्रियता और उसके हस्तक्षेप की लगातार माँग करती है और इस दिशा में आरटीआई कैसे एक औज़ार का काम करेगा, इसकी अनिवार्यता रेखांकित करती है।

दूसरा अध्याय मंत्रियों की विदेश यात्राओं पर केंद्रित है। जुलाई 1991 में नई आर्थिक नीति लागू होने के साथ मंत्रियों, सरकारी अधिकारियों एवं प्रतिनिधियों के विदेश यात्राओं के बहाने पहले के मुक़ाबले काफ़ी बढ़ गए। वैश्विक स्तर पर व्यावसायिक गतिविधियों को गति देने और देश को इस दौड़ में मज़बूत भागीदारी बनाए रखने के तर्क ज़ोर पकड़ने लगे। लेखक ने इस संबंध में 27 सितंबर, 2007 को पहला आरटीआई आवेदन दाख़िल किया। उस आवेदन में सीधे-सपाट शब्दों में प्रधानमंत्री कार्यालय से केंद्रीय मंत्रियों की विदेश यात्रा के बारे में निम्नलिखित जानकारी माँगी गई थी — मंत्री का नाम, जिन देशों/शहरों की यात्रा की गई, यात्रा की तिथियाँ, ख़र्च हुई कुल धनराशि। (पृ. 37) आरटीआई के जवाब में जो ब्यौरा दिया गया, लेखक ने अपने प्रबंध संपादक की सलाह पर उन मंत्रियों द्वारा की गई यात्रा की कुल दूरी की गणना की। 71 मंत्रियों द्वारा तय की गई दूरी को किलोमीटर में गणना करने में पंद्रह दिन से ज़्यादा समय लग गए और ये पूरी दूरी 1.02 करोड़ किलोमीटर आई। इस आँकड़े को पृथ्वी की परिधि से विभाजित किया और हैरान करने वाला नतीजा सामने आया। (पृ. 38) साढ़े तीन वर्षों में इन 71 मंत्रियों ने पूरी दुनिया के 256 चक्कर लगाने जितनी यात्रा की। *इंडिया टुडे* ने अपने इस पत्रकार की स्टोरी को इसी शीर्षक के साथ प्रकाशित किया और साथ में प्रत्येक मंत्री की यात्रा के ब्योरे शामिल कर दिए।

इस स्टोरी का सरकार पर क्या असर हुआ, इसकी लेखक ने विस्तार से चर्चा की है जिसमें कि 4 जून, 2008 को तत्कालीन प्रधानमंत्री मनमोहन सिंह द्वारा अपने मंत्रियों को चिट्ठी लिखने की घटना शामिल है। इसके बाद कैसे सरकार ने इस संबंध में मितव्ययिता संबंधी क़दम उठाए और उससे अगले वित्तीय वर्ष में सार्वजनिक कोष के एक अरब रुपये से अधिक की बचत हुई आदि बातें शामिल हैं। (पृ. 40) लेकिन इस किताब की चर्चा करने के क्रम में दो बातों की तरफ़ इशारा करना ज़रूरी है — एक तो ये कि बतौर पत्रकार लेखक ने जब एक के बाद एक ऐसी स्टोरी करनी शुरू की और इस संबंध में जो नतीजे सामने आए, वो देश के किसी भी नागरिक के लिए चिंता पैदा करने वाले हैं। एक तो यह कि वो यह बात आसानी से समझ सकते हैं कि एयर इंडिया जैसे सार्वजनिक उपक्रम क्यों ऐसी स्थिति में पहुँच गए कि सरकार उससे अक्सर पिंड छुड़ाने के मूड में रहती है और दूसरा कि मंत्रालयों, केंद्रीय कार्यालयों में क़ागज़ात के रख-रखाव और जानकारी को लेकर किस हद तक लापरवाही है। संभवतः यह इसी स्टोरी का असर रहा है कि उसके बाद से प्रधानमंत्री सहित बाक़ी मंत्रियों की विदेश यात्राओं के ब्योरे वेबसाइट पर सार्वजनिक तौर पर उपलब्ध होने लगे।

पत्रकारीय पैटर्न के लिहाज़ से देखा जाए तो पहले अध्याय से लेकर अगले नौ अध्याय तक सामग्री और उसकी प्रस्तुति में एक ख़ास तरह की एकरूपता है। स्वाभाविक है कि इसके पीछे पत्रकार लेखक के प्रबंध और कार्यकारी

संपादकों की भूमिका रही है। बतौर एक पत्रकार लेखक ने आरटीआई लगाने, उसके जवाब का इंतज़ार करने में महीनों लगाए, पूरे धैर्य के साथ इस बीच संबंधित स्टोरी पर शोध करते रहे और जब लगा कि इसे प्रकाशित किया जा सकता है तो स्टोरी से संबंधित तमाम पेचीदगियों और पाठकों का एक ही नज़र में ध्यान खींचनेवाले शीर्षक और ग्राफ़िक्स के साथ प्रस्तुत किया। लेखक की ऐसी स्टोरी जो *इंडिया टुडे* और बाद में *दि इंडियन एक्सप्रेस* में प्रकाशित होती रही, एक पाठक के तौर पर मैं उनमें से अधिकांश से गुज़रा हूँ। ऐसे में पाठ के तौर पर उसकी चर्चा करते हुए यदि उन ग्राफ़िक्स और स्टोरी को उसी रूप में किताब में शामिल किया जाता तो मीडिया के छात्रों से लेकर पेशेवर पत्रकारों को यह समझ पाने में सहूलियत होती कि उबाऊपन की हद तक अंकों और आँकड़ों की पेचीदगियों के बीच से निकली स्टोरी को कैसे सहज और दिलचस्प अंदाज़ में पेश किया जाना ज़रूरी होता है, जिससे कि न केवल ज़्यादा से ज़्यादा लोग उससे जुड़ पाते हैं बल्कि प्रस्तुति की एक असरदार शैली चलन में आती है। मिसाल के तौर पर मंत्रियों के विदेशी दौरे और आगे नौकरशाहों के विदेशी दौरे से जुड़ी और उनकी भाषा का ही असर रहा है कि अब यह कारोबारी मीडिया का एक पैटर्न-सा बन गया है कि जब भी प्रधानमंत्री या सरकार के प्रतिनिधि विदेशी दौरे पर होते हैं, ग्राफ़िक्स में उनकी पूर्व यात्राओं का ब्यौरा पेश किया जाने लगता है। ऐसा किए जाने से पाठक-दर्शक इस सवाल के साथ देखना-पढ़ना शुरू करते हैं — यात्रा की ज़रूरत या फिज़ूलख़र्ची? लेकिन *दि इंडियन एक्सप्रेस* की कुल तीन रिपोर्ट की कटिंग के अलावा लेखक की *इंडिया टुडे* की एक भी स्टोरी और *दि इंडियन एक्सप्रेस* की बाक़ी दूसरी स्टोरी और ग्राफ़िक्स की कटिंग और उनसे जुड़े ग्राफ़िक्स शामिल नहीं हैं। यह बहुत संभव है कि मीडिया संस्थान ख़ासकर *इंडिया टुडे* ग्रुप ने ऐसा करने की इजाज़त न दी हो या फिर इसमें कॉपीराइट का सवाल उठ खड़ा हुआ हो। नतीजतन, बहुत ही सादे ढंग से इन्हें तालिका की शक्ल में किताब में शामिल किया गया है। हालाँकि पाठकों को प्रत्येक अध्याय के पहले पन्ने पर शामिल इस तालिका पर बारीकी से नज़र दौड़ानी चाहिए। इससे वे समझ सकेंगे कि लेखक ने एक-एक स्टोरी के लिए कितने आरटीआई आवेदन दाख़िल किए, किन विभाग/मंत्रालय/संस्थान को शामिल किया, उसका क्या असर रहा और लेखक सहित बाक़ी मीडिया संस्थानों ने कहाँ तक फ़ॉलोअप किया।
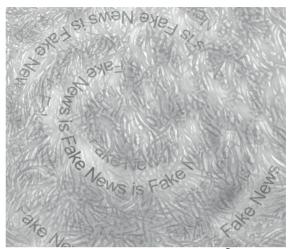
पत्रकारीय पैटर्न के लिहाज़ से देखा जाए तो पहले अध्याय से लेकर अगले नौ अध्याय तक सामग्री और उसकी प्रस्तुति में एक ख़ास तरह की एकरूपता है। स्वाभाविक है कि इसके पीछे पत्रकार लेखक के प्रबंध और कार्यकारी संपादकों की भूमिका रही है।

लेकिन यदि जिस तरह से लेखक ने आरटीआई के ज़रिए अपनी एक के बाद एक स्टोरी को क्रम से प्रस्तुत किया है, उसके साथ ही प्रकाशित स्टोरी की प्रति/तस्वीर शामिल की जाती तो ख़ास तौर पर मीडिया अध्येताओं के लिए व्यावहारिक तौर पर सीखने की सामग्री होती। ऐसा इसलिए भी कि यह किताब मीडिया छात्रों/ अध्येताओं के लिए टेक्स्ट बुक के तौर पर पाठ्यक्रम में शामिल किए जाने और नियमित रूप से पढ़े जाने की क्षमता रखती है।

दूसरा अध्याय केंद्र सरकार के नौकरशाहों की विदेश यात्राओं और उन्हें निजी यात्रा/ हित में बदल दिए जाने संबंधी मामलों पर केंद्रित है। लेखक ने पहली स्टोरी के लिए कुल 80 आरटीआई दाख़िल किए जिसमें कि फ़ॉलोअप के लिए दाख़िल आवेदन शामिल नहीं हैं। पहले की तरह नौकरशाहों की यात्राओं की गणना की और एक लोकप्रिय भाषिक प्रयोग के साथ प्रकाशित किया — बाबुओं ने चाँद तक आने-जाने की 74 यात्राओं के बराबर विदेश यात्राएँ कीं। इस स्टोरी में 1576 अधिकारियों द्वारा की गई लगभग दस हज़ार विदेश यात्राओं के ब्यौरे शामिल किए गए। फ़ेलोशिप और छात्रवृत्तियों के लिए की गई दीर्घावधि यात्राओं को इस सूची से बाहर रखा गया था। (पृ.53)

इस अध्याय में इस बात की विस्तार से चर्चा की गई है कि काम के नाम पर जो विदेश यात्राएँ की जाती हैं, उनमें तकनीकी विशेषज्ञता और काम के साथ सीधे जुड़ाव के पहलू से कहीं ज़्यादा अधिकारियों की राजनीतिक आकाओं से अच्छे संबंध और उनकी पहुँच का मामला होता है। (पृ.52) नतीजतन लाखों रुपये ख़र्च किए जाने के बावजूद सार्वजनिक हित में इन यात्राओं का लाभ नहीं होता। दूसरा कि सरकारी अधिकारियों को सरकारी हवाई यात्रा के दौरान जो 'फ़्रिक्वेंट-फ़्लायर माइलेज प्वाइंट्स' मिलते हैं जिनका कि हर हाल में सरकारी यात्रा के लिए उपयोग किया जाना चाहिए, व्यवहार में ठीक इसके उलटा होता आया है। इस स्टोरी के प्रकाशित किए जाने के लगभग दो सप्ताह बाद डी.ओ.ई. ने एक परिपत्र जारी किया और जिसमें कहा गया कि — 'सरकारी कर्मचारियों द्वारा सरकारी यात्रा के लिए ख़रीदे गए टिकटों पर मिलनेवाले सभी माइलेज प्वॉइंट्स का इस्तेमाल संबंधित विभाग द्वारा अपने अधिकारियों की अन्य आधिकारिक यात्रा के लिए ही किया जाना चाहिए ...'(पृ. 54)

लेखक ने 2 जुलाई, 2009 को एक आरटीआई सवाल के ज़रिए प्रधानमंत्री कार्यालय से पूछा कि डी.ओ.ई. के 1 अक्टूबर, 2008 के परिपत्र के अनुसार सरकारी अधिकारियों द्वारा अपनी आधिकारिक यात्राओं के एवज़ में अर्जित किए गए माइलेज प्वाइंट्स का इस्तेमाल करने के लिए क्या प्रणाली विकसित की है? (पृ. 56) किताब में 'बेख़बर प्रधानमंत्री कार्यालय' उपशीर्षक से इस संबंध में पूरा वर्णन शामिल है। सरकारी काम से विदेश गए अधिकारी कैसे काम ख़त्म होने के कई-कई दिनों और कुछ तो महीनों तक वहीं रहते हैं और किसी न किसी तरह की छुट्टियों का आवेदन करते रहते हैं, इससे देश के करोड़ों रुपये बर्बाद चले जाते हैं, इस पूरे मामले को लेखक ने 'भारत का प्रशासन तंत्र' शीर्षक से स्वतंत्र अध्याय में शामिल किया है।

अध्याय चार मंत्रियों/राजनीतिक की संपत्तियों की सार्वजनिक घोषणा, आरटीआई और उससे संबंधित पड़ताल पर केंद्रित है।

मंत्रियों की परिसंपत्तियों के सार्वजनिक किए जाने संबंधित सरकारी/ वैधानिक प्रयासों के संदर्भों को शामिल करते हुए इस अध्याय में लेखक ने चौंकाने वाले तथ्य शामिल किए हैं। इस देश में 1964 ई. से मंत्रियों की परिसंपत्तियों की जानकारी सार्वजनिक किए जाने की बात चल रही है, लेकिन लेखक ने अपनी स्टोरी के दौरान पाया कि इसे लेकर न केवल सरकारी महकमे में सुस्ती रही है बल्कि क़ाग़ज़ात — के रख-रखाव को लेकर भारी लापरवाही बरती जाती रही है। वो लिखते हैं —

'प्रधानमंत्री कार्यालय साउथ ब्लॉक में है और कैबिनेट सचिवालय राष्ट्रपति भवन परिसर के अंदर है, इन दोनों के बीच 300 मीटर से भी कम की दूरी है। लेकिन, संबंधित प्रस्ताव को स्वीकार किए जाने के 43 वर्ष बाद, आरटीआई आवेदनों पर मिले जवाब यह दर्शाते हैं कि इन दोनों शीर्ष कार्यालयों को जब इस बात की जानकारी तक नहीं थी कि आवश्यक सूचना के रख-रखाव के लिए कौन-सा विभाग ज़िम्मेदार है।' (पृ. 68) इसी अध्याय में वो आगे लिखते हैं कि संपत्तियों के ब्यौरे को सार्वजनिक किए जाने के मामले में राज्यों में अलग ही खेल खेला जा रहा है। अलग-अलग राज्यों ने अपने ढंग से लापरवाही बरती या फिर इसे आरटीआई के दायरे से बाहर रखने का प्रावधान बनाया। उत्तर प्रदेश का उदाहरण देते हुए श्यामलाल यादव लिखते हैं कि — 'उत्तर प्रदेश की तत्कालीन मुख्यमंत्री मायावती के कार्यालय ने ऊपरी तौर पर प्रमुख सचिव, गृह एवं गोपनीय विभाग को आवश्यक निर्देश भेजे, लेकिन तीन बार याद दिलाने के बावजूद कोई जवाब नहीं आया। एक वर्ष के बाद, 8 जून, 2009 को अख़बारों में ख़बर आई कि मायावती की कैबिनेट ने निर्णय लिया है कि मंत्रियों की आचार संहिता से संबंधित मामले आरटीआई क़ानून के दायरे से बाहर रहेंगे...' (पृ.77) 'दिनांक 19 मार्च, 2017 को भाजपा की सरकार बनने पर, मुख्यमंत्री योगी आदित्यानाथ ने अपने मंत्रियों से उनकी परिसंपत्तियों और देयताओं की घोषणा करने को कहा। लेकिन अभी भी लागू मायावती कैबिनेट के पुराने फ़ैसले की बदौलत कोई आरटीआई क़ानून के तहत घोषणाओं से संबंधित सूचना प्राप्त नहीं कर सकता है।' इसी तरह वर्ष 2008 के जवाब में गुजरात विधान सभा ने लिखा कि 'ऐसा कोई क़ानून/ विधान मौजूद नहीं है जिसके अंतर्गत विधायक को अपनी परिसंपत्तियों और देयताओं की सूचना उपलब्ध करानी पड़े।' (पृ. 79)

इसी कड़ी में लेखक नौकरशाहों के रवैये को देखते हुए उन्हें 'आधुनिक महाराजा' (पृ. 80) कहते हैं। लेखक ने परिसंपत्तियों के बारे में जानकारी हासिल करने के लिए एक के बाद एक आरटीआई आवेदन दाख़िल किए तो स्थिति और भी निराशाजनक थी। नौकरशाहों की परिसंपत्तियों और देयताओं की घोषणा करने की एक व्यवस्था है। उन्होंने अखिल भारतीय सेवा (आचरण) नियम, 1968 के प्रावधानों को इस पुस्तक में शामिल करते हुए टिप्पणी की है कि प्रधानमंत्री कार्यालय/ डी.ओ.पी.टी. से निर्देश दिए और आधिकारिक ज्ञापन जारी करने के बावजूद कुछ अड़ियल सेवाओं के अधिकारियों पर इसका कोई असर नहीं हुआ...'ऐसा लगता है कि कुछ सेवाओं में व्यापक तौर पर और बहुत-से अधिकारियों में व्यक्तिगत तौर पर जवाबदेही की कमी होना उनका शग़ल था,

ख़ासकर इसलिए कि उन पर कोई सख़्त निगरानी नहीं थी और न ही कोई कार्रवाई का डर था।' (पृ. 87)

इस अध्याय में शामिल केस स्टडीज़ और मामलों से गुज़रते हुए यह समझना मुश्किल नहीं होता कि सरकार के शीर्ष पर बैठे लोग अपने द्वारा बनाए गए प्रावधानों को भी गंभीरता से नहीं लेते हैं। दूसरा कि एक ही प्रावधान कैसे अलग-अलग मंत्री, नौकरशाह और अधिकारी के लिए अलग-अलग ढंग से सुविधा और फ़ायदे के अनुकूल इस्तेमाल में लाया जाता है। ज़रूरत पड़ने पर उनके निजी संस्करण तैयार कर लिए जाते हैं और जिससे कि व्यापक परिप्रेक्ष्य में वो प्रभावहीन होता चला जाता है।

भारत के जिन नौकरशाही और प्रशासकों जिनको लेखक आधुनिक महाराजा कहते हैं, वो भ्रष्टाचार और धत्तकर्म में किस हद तक आकंठ डूबे हैं, इसकी विस्तृत जानकारी अध्याय पाँच में 'भारत का प्रशासन तंत्रः आई.ए.एस./आई.पी.एस./आई.आर.एस. के विरुद्ध भ्रष्टाचार के मामले' में शामिल है।

वो लिखते हैं कि मेरा अनुभव रहा है कि आरटीआई लागू करने के संदर्भ में सी.बी.डी.टी. (केंद्रीय प्रत्यक्ष कर बोर्ड) सबसे ढीठ संस्थाओं में से एक है। ऐसी दूसरी सबसे बड़ी ढीठ संस्थाओं में भारतीय रिज़र्व बैंक, भारतीय प्रतिभूति एवं विनिमय बोर्ड यानि सेबी, संघ लोक सेवा आयोग जैसी संस्थाएँ हैं। इसके लिए वो इन संस्थाओं से मिले जवाब को पुस्तक में शामिल करते हैं जिनकी भाषा और अंदाज़ से पुष्टि हो जाती है। अव्वल तो इन संस्थाओं ने लेखक को लगातार पत्रकार और नागरिक दोनों में विभाजित करके देखा और इस बात को लेकर बार-बार सवाल उठाए कि चूँकि आप एक पत्रकार के तौर पर सवाल कर रहे हैं, नागरिक के तौर पर नहीं, ऐसे में जानकारी देना जनहित में नहीं होगा :

> जब पहली अपील दायर की गई थी तो सी.बी.डी.टी. के सतर्कता निदेशालय ने कहा- 'इसका उद्देश्य जनहित नहीं दिखता है। किसी भी जाँच या पड़ताल के जारी रहते हुए इससे जुड़ी सूचनाओं का असामयिक खुलासा करना किसी भी प्रकार से जनहित में नहीं हो सकता। इसीलिए, माँगी गई सूचनाएँ नहीं दी जा सकती हैं।' (पृ. 97)

इस अध्याय में लेखक ने दो बातों को ख़ास तौर पर रेखांकित किया है — एक तो यह कि सुरक्षा और जनहित का हवाला देकर कैसे नौकरशाहों ने आरटीआई का जवाब देने में टाल-मटोल करते रहे और एक तरह से इसे कमज़ोर करने काम करते आए हैं और दूसरा कि जून 2011 में सीबीआई ने जैसे ही पूरी की पूरी सीबीआई को आरटीआई के दायरे से मुक्त कर दिया, इससे भ्रष्टाचार का व्यापक स्तर पर सार्वजनिक होने का रास्ता बंद हो गया। लेखक के शब्दों में सीबीआई का आरटीआई के दायरे से बाहर होना उन लोगों के लिए एक सदमे की तरह है जो भ्रष्टाचार के मामलों में सूचनाएँ निकालने के लिए आरटीआई का इस्तेमाल कर रहे थे। उनका मानना है कि यदि सीबीआई. सूचना का अधिकार क़ानून के अंतर्गत होती तो यह जानना आसान होता कि बोफ़ोर्स और उस क़िस्म के दूसरे मामलों को कैसे दर्ज किया गया था, उनकी जाँच-पड़ताल, मुक़दमा और समापन किस तरह से किया गया था और इसमें इसकी क्या भूमिका थी। (पृ. 103) इसी तरह रक्षा बल को छूट दिए जाने से भ्रष्टाचार पर पर्दा डालने का एक और रास्ता बना लिया गया। लेखक ने ऐसा

किए जाने के विविध मामले और प्रसंगों को इस अध्याय में शामिल किया है।

नदियों में प्रदूषण स्तर और उसे कम करने संबंधित चल रही करोड़ों रुपये की परियोजनाओं को लेकर लेखक ने अपनी पहली स्टोरी के लिए कुल 39 आवेदन किए और इस काम में एक साल से अधिक वक़्त लगाया। अध्याय छह में इसकी विस्तार से चर्चा और साथ में यह भी कि गंगा जैसी नदी का आस्था और परियोजना की घालमेल के बीच राजनीतीकरण तो ख़ूब हुआ लेकिन समय के साथ-साथ कैसे इसकी स्थिति बद से बदतर की जाती रही। इस अध्याय से गुज़रने पर पाठक, शोधार्थी और पेशेवर पत्रकार समझ सकेंगे कि लेखक ने जल और प्रदूषण से संबंधित बारीकियों को समझने के लिए कितनी मेहनत की है, और ख़ास तौर पर जो ख़बरिया चैनल हर दूसरी-दूसरी विज्ञान और पर्यावरण से जुड़ी स्टोरी को गप्पबाज़ी में तब्दील कर दिया करते हैं, वो कैसे सच्चाई को ढँकने और एक तरह से भ्रष्ट तंत्र को लाभ पहुँचने का काम करते हैं। नदियों में प्रदूषण से जुड़ी इस खोजबीन और इस पर की गई स्टोरी के लिए लेखक को 2010 में एशियन डेवलपमेंट बैंक इंस्टीट्यूट ने डेवलपिंग एशिया जर्नलिज़म अवॉर्ड्स 2010 प्रदान किया। यूनेस्को ने इसे *स्टोरी बेस्ड इंक्वायरी : अ मैनुअल फ़ॉर इंवेस्टिगेटिव जर्नलिस्ट-2009* में प्रकाशित किया। (पृ. 100)

नदियों में प्रदूषण स्तर पर पड़ताल करने के बाद लेखक की टिप्पणी है कि 'अर्थव्यवस्था हमारे जीवन में क्रांतिकारी बदलाव ले आई है, जबकि हमारी राजनीति और प्रशासन में कोई बदलाव नहीं आया। यह विरोधाभास है।...हज़ारों करोड़ रुपये ख़र्च करने के बाद भी हम अब तक यमुना और गंगा को साफ़ नहीं कर सके हैं।' (पृ. 110) इस अध्याय में 1984 में राजीव गांधी के प्रधानमंत्री बनने के बाद गंगा की सफ़ाई की प्रक्रिया शुरू होने और फ़रवरी 1985 में केंद्रीय गंगा प्राधिकरण बनने, इसमें आगे चलकर और नदियों के जुड़ते चले जाने से लेकर राष्ट्रीय नदी संरक्षण योजना के बनने की कहानी शामिल है। वे बताते हैं कि नदियों की सफ़ाई के लिए जिस योजना की शुरुआत 3.5 अरब से हुई थी, 2013 तक आते-आते गंगा और यमुना पर 82.78 अरब से अधिक रुपये ख़र्च हो गये लेकिन पानी की गुणवत्ता में बमुश्किल ब्यौरे कोई सुधार हो पाया। (पृ. 119) लेखक की इस तरह के ब्यौरे से जुड़ी स्टोरी महाकुंभ शाही स्नान की तिथि से ठीक एक दिन पहले यानि 13 जनवरी को *इंडियन एक्सप्रेस* में प्रकाशित हुई जिससे कि आस्था और धार्मिक मान्यताओं के बीच पाठक, देश के नागरिक समझ सकें कि उनकी नदियाँ किस हाल में हैं? जिस बात को लेकर चिंता की जानी चाहिए, देश के नागरिकों को जागरूक होना चाहिए, आस्था की आड़ लेकर कैसे उसके पीछे के भ्रष्टाचार को छिपाने का काम किया जाता है, इस अध्याय से गुज़रने के बाद पाठक बेहतर समझ सकेंगे। हाँ, ये ज़रूर है कि लेखक ने इस सिरे से कहीं टिप्पणी नहीं की है कि स्वयं कारोबारी मीडिया किस तरह से ऐसा माहौल पैदा करता है और अपने पाठकों-दर्शकों के भीतर पर्यावरण और नदियों को लेकर जागरूक करने के बजाय दूर करने का काम करता है। लेकिन न्यूज़ चैनलों के दर्शक और समाचारपत्रों के पाठक इस अध्याय से गुज़रने के बाद सहजता से समझ सकेंगे। यह अध्याय मीडिया छात्रों और पेशेवर पत्रकारों के लिए ख़ास तौर से इस अर्थ में महत्त्वपूर्ण है कि वो इस

सिरे से भी सोच सकेंगे कि पर्यावरण, प्रदूषण और वैज्ञानिक पहुलओं से जुड़े मुद्दे पर जब हमें रिपोर्टिंग करनी हो तो किस तरह की शब्दावली प्रयोग में लाए जाने की ज़रूरत है और किस तरह से उबाऊ आँकड़े को दिलचस्प ढंग से पेश किया जा सकता है। इस लिहाज़ से प्रत्येक अध्याय बेजोड़ है।

सांसदों के निजी सहायक रखने के मामले में किस तरह की मनमानी और अंधेरगर्दी है, जिन सांसदों से संविधान और नागरिक अधिकारों की रक्षा की उम्मीद की जाती है, वो अपने सिरे से कैसे इन्हें ध्वस्त करने का काम करते हैं, इसकी विस्तृत जानकारी अध्याय सात में शामिल है। मंत्रियों और सांसदों के निजी सहायक और सांसदों के अतिथि से जुड़ी स्टोरी करने के क्रम में लेखक ने आरटीआई दाख़िल किए और इस दिशा में पड़ताल शुरू की। ऐसा करने के क्रम में वो इस नतीजे पर पहुँचे कि बाहर से भले ही राजनीतिक पार्टियाँ एक-दूसरे की दुश्मन जान पड़ती हैं, लेकिन गड़बड़ी और भ्रष्टाचार के मामले में उनके बीच ज़बरदस्त ढंग की साझेदारी है। दूसरी तरफ़ मंत्री और सांसद निजी सहायक रखने के मामले में न केवल नियम के विरुद्ध जाकर अपने ही परिवार के सदस्यों, रिश्तेदारों को बहाल करते हैं बल्कि अयोग्य लोगों को रखकर पीछे से दूसरों से काम करवाते हैं और निर्धारित पारिश्रमिक में बंदरबाँट का काम भी करते हैं। जितनी रक़म होनी चाहिए, उससे आधी या उससे भी कम उन्हें दिया जाता है जो कि सीधे-सीधे शोषण है।

इस दौरान ऐसे मामले भी सामने आए जिनमें सांसदों ने परिवार के एक सदस्य को पहले पी.ए. के रूप में नियुक्त किया था और उसे 6 रुपये 30,000 के मासिक पारिश्रमिक का बड़ा हिस्सा दे रहे थे, और दूसरे पी.ए. (सही मायनों में निजी सहायक) के रूप में ग़ैर-पारिवारिक सदस्य को नियुक्त किया हुआ छोटा हिस्सा दिया जा रहा था।' (पृ. 129) इस तरह की स्टोरी करने के क्रम में लेखक को सांसदों की ओर से धमकियाँ और रूखे जवाब भी मिले लेकिन उन्होंने लिखा है कि मैं सिर्फ़ अपनी स्टोरी के बारे में सोच रहा था इसलिए मैंने ज़्यादा परवाह नहीं की। (पृ. 129) मौजूदा दौर में हमारे अधिकांश मीडियाकर्मी सत्ताधारियों के आगे न केवल नतमस्तक हो जा रहे हों बल्कि उनके पक्ष में माहौल बनाने के लिए एक के बाद एक फ़ेक न्यूज़ तैयार करने में जुटे हैं, इन सबके बीच लेखक का यह कथन देश के उन हज़ारों युवा मीडियाकर्मियों के बीच की हताशा और दिमाग़ में लगे जाले को साफ़ करने का काम करती है कि एक पेशेवर पत्रकार को क्या करना चाहिए?

अध्याय आठ में एक ही साथ कई मुद्दे और उन पर की गई पड़ताल को लेखक ने शामिल किया है जिनमें कि जन-धन खातों में एक रुपए का खेल, मानद उपाधियों की कहानी, जीवन बीमा बंद पॉलिसियों का क़िस्सा, हथियारबंद आदमी। अफ़ज़ल गुरू से जुड़ी फाइलें, बिना छुट्टियों की छुट्टी, कार्यालयों में आरक्षित शौचालय और टेलीफ़ोन टेप आदि की कहानी प्रमुख है। छोटे-छोटे इन उपशीर्षक में बँटी इस पाठ सामग्री से देश के एक के बाद एक ऐसे बड़े मामलों के बीच फैला भ्रष्टाचार पाठक के सामने आता है जिसके बाद उन्हें आश्चर्य हो सकता है कि राष्ट्र विकास और सुरक्षा के नाम पर हमारे देश में यह सब भी हो रहा है? दूसरी तरफ़ पीएचडी की डिग्री जिसे हासिल करने में एक सामान्य शोधार्थी के पाँच-छह साल तक लग जाते हैं, वह मानद उपाधि के नाम पर

सत्ताधारियों और प्रभावी लोगों को ख़ुश करने के लिए कैसे रेवड़ी की तरह बाँटी जाती रही है, यह सच सामने होता है। अर्थशास्त्री विमल थोराट ने 2006 से 2011 के बीच सात मानद डॉक्टरेट प्राप्त की थीं और तब वे यूजीसी के अध्यक्ष थे। (पृ. 153) इसी तरह यहाँ हम कुछ उदाहरणों को शामिल करते हुए समझ सकते हैं, मसलन:

> जन-धन योजना को प्रभावी बनाने और अपने आक़ाओं को ख़ुश करने के लिए बैंकों ने अपनी तरह से ज़ीरो बैलेंस अकाउंट की संख्या कम करने के लिए अपनी तरफ़ से एक या दो रुपये जमा कराए। लेखक ने कुल 82 बैंकों में आरटीआई दाख़िल किया। दर्जनों लोगों के इंटरव्यू लिए और किसी को नहीं पता कि उन्होंने जब पैसे जमा नहीं कराए तो फिर वो आ कैसे गए ? लेखक ने सारे बैंकों का विस्तृत ब्यौरा, जन-धन खातों की संख्या और जमा रक़म आदि को इस अध्याय में शामिल किया है और आख़िर में टिप्पणी की है कि ज़ीरो बैलेंस वाले जन-धन खातों संख्या कम करने की यह तरक़ीब इस्तेमाल करने के लिए सरकार ने किसी भी अधिकारी पर कोई कार्रवाई नहीं की और इस पर लीपापोती कर दी गई। (पृ. 151)

लेखक ने 8 अक्टूबर, 2009 को गृह मंत्रालय के पास एक आरटीआई आवेदन भेजा जिसमें आवेदन की तिथि तक देश भर में जारी किए गए निजी हथियारों की संख्या देने का अनुरोध किया गया था। उनसे पूछा गया :

> क्या गृह मंत्रालय के पास देश भर के लोगों को जारी किए गए निजी हथियारों के लाइसेंसों की अनुमानित संख्या (किसी भी स्रोत से) राज्य-वार उपलब्ध हैं? यदि हाँ, तो कृपया राज्यवार यह संख्या उपलब्ध कराई जाए। लेकिन इस आरटीआई का कुछ ऐसा जवाब मिला कि फिर सूचना निकलवाने के लिए 700 से अधिक आरटीआई आवेदन करने पड़े, जिनमें अन्य के अलावा सभी ज़िला मजिस्ट्रेट भी शामिल थे, और इतनी बड़ी संख्या में आरटीआई दाख़िल करने और लगभग चार वर्ष का समय ख़र्च करने के बाद भी लगभग आधे देश की स्थिति ही स्पष्ट हो पाई। यह अहसास हुआ कि जवाब देने वाले कई ज़िला लाइसेंस अधिकारियों की मोटी चमड़ी से लड़कर राष्ट्रव्यापी आँकड़े प्राप्त करना लगभग असंभव होगा। (पृ. 165)

जिस तरह सांसदों, मंत्रियों के निजी सहायक की नियुक्ति के मामले में मनमानी और अपने रिश्तेदारों को लाभ पहुँचाने का मामला देखा गया, उसी तरह लेखक ने सरकार द्वारा वित्तपोषित ग़ैर-सरकारी संगठनों से जुड़े मामलों की पड़ताल करनी शुरू की तो पाया कि कई ऐसे मामले हैं जिनमें ग़ैर-सरकारी संगठन का काम सिर्फ़ काग़ज़ पर चल रहा है। दूसरा कि जिन लोगों को अलग-अलग संगठन/ गतिविधियाँ चलाने का काम और अनुदान दिए गए हैं, वो राजनेताओं के रिश्तेदार हैं या फिर उनकी पहुँच के लोग हैं। जन शिक्षण संस्थान का उदाहरण देते हुए वो लिखते हैं कि 'मानव संसाधन विकास मंत्री डॉ. मुरली मनोहर जोशी के कार्यकाल के दौरान अनुमोदित किए गए बहुत-से शिक्षण संस्थान भाजपा नेताओं या उनके रिश्तेदारों के नियंत्रण में थे। मंत्रालय में उनके उत्तराधिकारी अर्जुन सिंह भी उन्हीं के नक़्शे-क़दम पर चले और उन्होंने भी अपने चहेते कांग्रेसियों को बहुत से जे.एस.एस. के लिए मंजूरी दी। इन्हें मंजूरी दिए जाने में कोई पारदर्शिता नहीं थी और मंत्रियों ने

अपने लोगों को मनचाहे ढंग से इनकी मंजूरी थी। इन सोसाइटीज को मंजूरी और अनुदान दिए जाने में कुप्रबंधन स्पष्ट था।'...जाँच के दौरान पाया गया कि जिन सोसाइटीज़ - प्रस्तावों को ख़ारिज किया गया था, उनकी न तो कोई फाइल थी और न ही उनके ख़ारिज किए जाने को लेकर कोई रिकॉर्ड ही। (पृ. 190) अध्याय नौ में इस तरह देश की प्रमुख योजनाओं और स्वयंसेवी संस्थाओं के कामकाज के तरीक़े को लेकर गहरी छानबीन शामिल है।

सरकार द्वारा वित्तपोषित ग़ैर-सरकारी संगठन पर केंद्रित अध्याय पत्रकारिता की दृष्टि से उन दर्जनों स्टोरीज़ की संभावना की ओर इशारा करते हैं जिन्हें लेकर छानबीन और रिपोर्टिंग की जाए तो यह समझना मुश्किल नहीं होगा कि इस देश में इन संस्थानों का इस्तेमाल किस हद राजनीतिक लाभ के लिए किया जाता रहा है और नागरिक हित के सवाल कैसे बहुत पीछे छूट जाते है ? इतना ही नहीं, रिकॉर्ड और दस्तावेज़ को लेकर जो भारी अनियमितता बरती जाती रही है उससे लोकतंत्र की जड़ें किस हद तक कमज़ोर होती है।

साल 2007 में अपने प्रबंध संपादक और मीडिया संस्थान *इंडिया टुडे* के परामर्श पर लेखक ने आरटीआई के ज़रिए पत्रकारिता करने की जो शुरूआत की, तक़रीबन दस साल तक हज़ारों आरटीआई आवेदन दाख़िल करने और जुटाए गए तथ्यों के आधार पर स्टोरी करने के बीच इस देश की लोकतांत्रिक व्यवस्था को बहुत ही बारीकी और क़रीब देखा। अध्याय दस 'बला टालने का खेल' में उन्होंने अपने इन अनुभवों को शामिल किया है। हालाँकि बाक़ी अध्याय से अपेक्षाकृत यह कम विस्तृत है और अपने अनुभवों को लेकर स्वतंत्र पुस्तक लिखे जाने की आवश्यकता है, लेकिन जो भी ब्यौरे शामिल किए हैं, वो बतौर एक नागरिक-पाठक शर्मसार करने वाले हैं। वो लिखते हैं कि 'आरटीआई क़ानून के बावजूद, सरकार से महत्त्वपूर्ण सूचना प्राप्त करना एक कठिन, श्रमसाध्य और अक्सर हताश कर देने वाला काम है और तब महसूस होता है मानो पारदर्शिता को धता बताना और सूचना को छुपाना ही बहुत से सरकारी अधिकारियों का मूलमंत्र है और इधर-उधर चक्कर कटवाना उनका पसंदीदा मनोरंजन है। अपने शुरुआती डर से उबर चुकने के बाद, कई सरकारी विभाग आरटीआई क़ानून को निष्फल करने का हर संभव प्रयास करते हैं...चुनाव आयोग से मुझे ऐसा ही पहला बड़ा झटका लगा और निश्चित रूप से यह बहुत हैरान करने वाला था। मैंने सूचना आयोग में एक आवेदन किया था, जिसके जवाब में मुझे हैरान करते हुए 2,000 से ज़्यादा लिफ़ाफ़े मिले लेकिन माँगी गई सूचना नहीं मिली — उन सभी में यही कहा गया था कि माँगी गई सूचना को शून्य माना जाए।' (पृ. 206) इसी तरह आईआईटी और आईआईएम ने बेहद संवेदनहीन रवैया अपनाते हुए ऐसे बहुत मामले थे जिनमें मुझे सूचना देने से सिर्फ़ इसलिए इनकार किया क्योंकि मैं एक मीडिया संस्थान में हूँ इसलिए मुझसे एक भारतीय नागरिक के समान व्यवहार नहीं किया जा सकता। (पृ. 207)

श्यामलाल यादव की इस पुस्तक के आख़िरी पन्ने तक आते-आते पाठकों के चेहरे पर चिंता की लकीरें खिंच सकती हैं। वो इस बात पर गहरा अफ़सोस ज़ाहिर कर सकते हैं कि दुनिया के सबसे बड़े लोकतांत्रिक देश में जहाँ सूचना, कग़ज़ात और जानकारी को लेकर भारी अनियमितता और अपने द्वारा ही बनाए गए

प्रावधानों की अवमानना होती आई हो, वह एक मज़बूत लोकतंत्र होने का दावा कैसे कर सकता है? लेकिन दूसरी तरफ़ आरटीआई और उन्हें आधार बनाकर स्टोरी करने का जो असर होता है, इस सिरे से देखा जाए तो इस पुस्तक में गहरी अंतर्दृष्टि है जो नागरिक-पत्रकार और शोधार्थियों में ज़िम्मेदारी का बोध पैदा करने की क्षमता रखती है। इस अंतर्दृष्टि से गुज़रने के लिए या तो पुस्तक को कम से कम दो बार पढ़ा जाए जिससे कि एक बार में समस्याएँ, वस्तुस्थिति, लापरवाही आदि से परिचय हो सके और दूसरी बार में आरटीआई से मिले जवाब को आधार बनाकर स्टोरी किए जाने से क्या असर हुआ, उनका अवलोकन किया जाए। दूसरा तरीक़ा यह भी हो सकता है कि पुस्तक पाठ के लिए समानांतर पद्धति अपनाई जाए जिसमें कि समस्याएँ, वस्तुस्थिति और लापरवाही के साथ-साथ आरटीआई से मिली जानकारी के आधार पर की गई स्टोरी के प्रभाव को समझने की कोशिश हो। इन दोनों तरीक़े से पाठ किए जाने पर प्रभाव के हिस्से से गुज़रते हुए पाठक आश्वस्त हो सकते हैं कि पत्रकार के तौर पर एक व्यक्ति के प्रयास से जब व्यवस्था पर इतना गहरा असर पड़ सकता है तो यदि यह प्रयास सामूहिक स्तर पर या फिर अपने-अपने स्तर पर नागरिक समाज की अनिवार्य गतिविधि के रूप में होते रहें तो कितना कुछ बेहतर हो सकता है! इस दृष्टि से लेखक ने भारतीय जीवन बीमा निगम की बंद पॉलिसियों को लेकर जो आरटीआई आवेदन दाख़िल किया और उसके जो नतीजे सामने आए, उस प्रकरण को विशेष तौर पर देखा जा सकता है।

और अंत में यह कि...इस किताब से गुज़रते हुए पाठक के दिमाग़ में एक सवाल बार-बार उठने की संभावना लगातार बन सकती है कि क्या श्यामलाल यादव बिना किसी वैचारिक आग्रह, राजनीतिक व्यक्ति दल-विशेष के प्रति आसक्त हुए आरटीआई आवेदन दाख़िल करने से लेकर स्टोरी लिखने का जो काम करते आए हैं, देश के बाक़ी मीडियाकर्मी पत्रकारिता को तथ्यपरकता से 'ओपिनियन मेकिंग' और एजेंडा सेटिंग के काम में झोंक देने के बजाय यह काम कर रहे होते तो ऐसी जर्जर स्थिति क्यों होती कि देश के शीर्ष संस्थान आरटीआई को लेकर लापरवाह होते चले जाते और अंत में नागरिक के ख़िलाफ़ खड़े नज़र आने लगते? ज़ाहिर है स्वयं श्यामलाल यादव ने अपने काम के अलावा कारोबारी मीडिया की कारगुज़ारियों पर कहीं कोई टिप्पणी नहीं की है और राजनीतिक-व्यावसायिक हित साधने के लिए इसने लोकतंत्र की ज़मीन को किस हद तक कमज़ोर करने का काम किया है, इसके संदर्भ शामिल नहीं किए है। किंतु इस पुस्तक से गुज़रते हुए एक सवाल की शक्ल में पाठक के सामने ज़रूर आ खड़ा होता है कि जब देश की लोकतांत्रिक व्यवस्था के भीतर इस हद तक झोल है तो ख़बरिया चैनलों और अधिकांश समाचारपत्र के पन्नों पर सब कुछ गुलाबी कैसे नज़र आता है?